ISSN - 2231-1130
वर्ष–सप्तम् ; सितम्बर–2016

''नव-उपनिवेशवाद की चुनौतियाँ और हिन्दी''

योगेन्द्र कुमार सिंह*

शोध छात्र, हिन्दी विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

किसी भी समाज की समग्र अभिव्यक्ति उसकी संस्कृति होती है और संस्कृति के सभी तत्त्वों–संस्कार, धर्म, साहित्य, सामाजिक विभाजन, अर्थव्यवस्था राजनीति, भूगोल आदि को वहाँ की भाषा से गति मिलती है। भाषा, समाज की सभ्यता, संवेदना और एक सूत्रता को व्यक्त करती है, जिस देश में सभी को भाषा विशेष मान्य न हो, उस राष्ट्र का क्षेत्रीय विवादों से उलझा होना स्वाभाविक है। चूँकि भाषा का निर्माण समाज करता है, अतः सामाजिक बदलावों के अनुरूप भाषा भी प्रभावित होती है। पंजाबी भाषा के शब्दों में जिंदादिली और कठोरता, तो अवधी के शब्दों में मिठास और सादगी का प्रतिशत तुलनात्मक रूप से अधिक है, क्योंकि पंजाब सीमावर्ती होने के कारण युद्धों और असुरक्षा से जूझता रहा तथा अवध का क्षेत्र सुरक्षा और संतुलित प्रकृति से व्यवस्थित रहा।

'नव–उपनिवेशवाद' संस्कृति से गहराई के साथ जुड़ा है। संस्कृति और भाषा के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए डॉ0 राम विलास शर्मा ने लिखा है–''संस्कृति सामाजिक और प्राकृतिक परिवेश पर विजय पाने का साधन है। उसमें मनुष्य के भाव, विचार, संस्कार, संवेदनाएँ सभी शामिल हैं। भाषा भी ऐसी ही संस्कृति है। वह पत्थर, लकड़ी या धातुओं के बने हुए आयुधों जैसी स्थूल नहीं है, उसका स्तर अधिक सूक्ष्म है, किन्तु वह कोई अतीन्द्रिय व्यापार नहीं है। भाषा बोली जाती है, सुनी जाती है, लिखी जाती है, वह मन और इन्द्रियों का व्यापार है। उसके अर्थ का आधार भौतिक जगत है, मनुष्य की काल सापेक्ष और देश सापेक्ष चेतना है, मनुष्य का दूसरे मनुष्यों से वाह्य जगत से सम्बन्ध है।''[1] वैदिक संस्कृति से वर्तमान हिन्दी एवं अन्य भाषाओं के विकास की परम्परा में निरंतर भाषा और समाज के समांतर सम्बन्ध दिखायी पड़ते हैं। 19वीं शताब्दी के शुरूआती दौर, गद्य के विस्फोट, तकनीकी ज्ञान के विकास और समाज की आधुनिकतावादी दृष्टि ने देखते ही देखते, भाषा मानी

जाने वाली 'ब्रज' (ब्रज भाषा) को 'बोली' और खड़ी बोली को 'भाषा' का दर्जा दे दिया। वहीं बोली में विभिन्न भाषाओं के शब्द भी मिश्रित होते गये क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से यह गहन संलयन का काल था। न सिर्फ दो संस्कृतियाँ (अंग्रेजी–भारतीय) जबकि दो तरह के विज्ञान, साहित्य समाज, धर्म आदि परस्पर मिल रहे थे। खड़ी बोली के टकसालीपन को जहाँ उर्दू दूर कर रही थी, वहीं उसकी भाव गंभीरता और संप्रेषणीयता के आयाम को अंग्रेजी के शब्द विस्तृत करने लगे। समांतर समय में अंग्रेजी ने समाज में अपनी पकड़ गहरी करते हुए स्वयं को भारतीयों में स्वतन्त्र भाषा का दर्जा दिलवा लिया। किन्तु अपने शैशव काल से ही उच्च और पढ़े–लिखे तबके की दुलारी रही भाशा ने प्रौढ़ता के समय तक (21वीं सदी तक) नयी दशा (भाषिक नव–उपनिवेशवाद) को प्राप्त किया।

अंग्रेजों के स्टेट्स सेंबल से सामंतों के वर्ग में पहुँची अंग्रेजी को लेकर एक बाजारवादी जनपद का विकास हुआ। जिसका वक्ता भाषा से ही अपनी 'आइडियेण्टिटी' बनाना चाहता है। पूँजीपतियों, फिल्म स्टार्स या मुट्ठी भर लोगों के अतिरिक्त समाज का अधिसंख्य मध्यवर्ग या निम्न मध्यवर्गीय समाज अंग्रेजी बोलकर अपनी विशेष पहचान बनाना चाहता है, जिसकी चपेट में राष्ट्रभाषा या संपर्क भाषा हिन्दी ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारत की मातृ भाषाएं शामिल हैं। जो समस्या उत्तर भारतीयों की मातृभाषा से लेकर है, वहीं दक्षिण भारत में मलयालम (केरल), कन्नड़ (कर्नाटक में), तेलगू (आंध्रप्रदेश), तमिल (तलिनाडु, पाण्डचेरी), या फिर महाराष्ट्र में मराठी तथा बंगाल में बांग्ला को लेकर है।

वस्तुतः मुख्य प्रश्न अंग्रेजी बनाम भारतीय भाषाओं का नहीं है और न तो इन भाषाओं के साथ अंग्रेजी भाषा की कोई रकीबियत है, बल्कि भाषाओं की आपसी प्रतिस्पर्धा तो सभी का विकास करती है और एक समाज के द्वारा अधिकतम भाषाओं को सीखना निश्चय ही शुभ संकेत है। किन्तु मुख्य समस्या भाषियों के उस नजरिये की है, जहाँ एक ओर वह अपनी मातृ भाषा के मोह से बंधा हुआ है तो दूसरी तरफ अंग्रेजी का इस्तेमाल अपनी प्रतिष्ठा के प्रयोग में

करता है। वस्तुतः इस स्थित की पड़ताल भाषा की परम्परा या समाज के दोषारोपण में नहीं बल्कि आर्थिक प्रक्रियाओं में खोज की जा सकती है। यद्यपि अंग्रेजी का बढ़ता प्रभाव नब्बे के दशक से पहले भी था, किन्तु उदारीकरण से विकसित हुए नये बाजारवादी प्रभावों ने आम जन में 'ब्राण्डवाद' का विकास किया। आज ब्राण्ड ही सभी बातों का नियंता बन गया और अंग्रेजी ब्राण्डवादी भाषा बन गयी। ब्राण्डवाद के बढ़ते प्रभाव को अमित कुमार सिंह ने इस प्रकार व्यक्त किया है– ''विचारधारा का मोह अब बीते दिन की बात हो गई है। स्वयं को एक ब्राण्ड के रूप में प्रस्तुत करने का प्रचलन अब जोरों पर है। ऐसा मीडिया के बढ़ते प्रभाव के फलस्वरूप है। पश्चिमी देशों में यह प्रचलन पहले से था। अब भारत में भी यह स्वीकृति का नुस्खा बन चुका है।''[2] 'एम0 एन0 सी0' के व्यापार का माध्यम अंग्रेजी इसलिए भी बनी क्योंकि विकासशील राष्ट्र बिना किसी विशेष शर्त के विदेशी पूँजी से अपनी बाजारों को चमकाने के लिए उसकी भाषा के साथ पहले से ही तैयार थे। यह ब्राण्डवाद की मानसिकता नव–उपनिवेशवाद की प्रक्रिया का ही फल है, जिसमें समाज के मानसिक जगत को भी बाजार ने ही नियंत्रित किया, इसका बड़ा प्रभाव भाषा पर देखा जा सकता है।

वस्तुतः 'नव–उपनिवेशवाद', उपनिवेशवाद का नवीन पक्ष है, जिसको भूमण्डलीकरण की आर्थिक क्रिया का सामाजिक पहलू मान सकते है। यह हमारी भूमण्डलीय अव्यवस्था की रामायण है, जिसमें हम सबका बोध बदल रहा है और हमारे सभी सांस्कृतिक ज्ञानात्मक प्रतीक बाजारवाद में बिकने को खड़े हैं। यहाँ उपनिवेशवादी विकास और उन्नति का चेहरा ओढ़कर पहले अभाव पैदा करता है और फिर उसे भरने के नाम पर उस समाज को गुलाम बनाने के लिए उसकी संस्कृति शिक्षा और भाषा को नियंत्रण में लेता है। बल्कि नव–उपनिवेशवाद राज्य के निवासियों के विचारों उनके स्वप्नों, जीवन के प्रति दृष्टिकोण को बाजार के मुताबिक ढालता है। यहाँ एक राज्य दूसरे राज्य को अपना गुलाम नहीं बनाता बल्कि 'एम0 एन0 सी0' किसी भी देश के व्यापार पर नियंत्रण करके खानपान, पहनावे, जीवन

स्तर, घरेलू सामग्री आदि सभी का निर्धारण करती हैं। नव–उपनिवेशवाद का स्वरूप बी0 एल0 फाड़िया' ने इस प्रकार स्पष्ट किया'' नव–उपनिवेशवाद आधुनिक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नयी शब्दावली है। नव–उपनिवेशवाद' की संकल्पना अत्यन्त आधुनिक संकल्पना है जिसका उदय द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त हुआ है। नव–उपनिवेशवाद में अपेक्षाकृत कम शक्तिशाली राज्य का सम्बन्ध एक आर्थिक उपनिवेश या उपग्रह का होता है। शक्तिशाली, विकासशील और तीसरी दुनिया के नव–स्वतन्त्र देशों के सम्बन्ध कुछ इस प्रकार विकसित होते जा रहे हैं, कि नव–स्वतन्त्र देश आर्थिक दृष्टि से दानता के शिकंजे में फंसते जा रहे हैं, चाहे भले ही राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र ही क्यों नहीं परिलक्षित होते हो।''[3]

नव–उपनिवेशवाद की इस प्रक्रिया से सारा देश प्रभावित है। सर्वाधिक प्रभाव सांस्कृतिक पक्ष पर पड़ा और सांस्कृतिक अभिव्यक्ति की इकाई भाषा (हिन्दी एवं सम्पूर्ण मातृ भाषाएं) भी नव–उपनिवेशवाद की स्थिति में पहुँच गयी है। जो अंग्रेजी नब्बे के दशक में पढ़े–लिखे समाज की भाषा मानी जाती थी, वह बींसवीं शताब्दी तक बाजार के ब्राण्डवाद से प्रेरित होकर 'स्टेटस सेंबल' बन गयी। इस तरह अंग्रेजी साम्राज्यवादियों की भाषा से लेकर नव–उपनिवेशवादी भाषा बनने की यात्रा तय करती है। अस्तु हम भाषा से सम्बन्धित जिन समस्याओं से जूझ रहे थे, उनमें एक नयी समस्या के रूप में भाषिक नव–उपनिवेशवाद दिखाई देता है। जिसकी मानसिकता के चलते विचारों की गुणवत्ता या संवेदना की गहराई से विद्वता या अभिव्यक्ति की कुशलता का निर्धारण नहीं होता, बल्कि भाषा का माध्यम इन बातों को तय करता है। 'कार्पोरेट सेक्टर' में महज दो–चार साल से काम करने वाला व्यक्ति, जो अपने गाँव को छोड़कर पाँच बरस पहले ही गया था, वह पुनः लौटकर अपनी मातृभाषा में नहीं बल्कि 'कार्पोरेट लैंग्वेज' में 'मार्केटिंग एटीट्यूट' के साथ बात करते हुए स्वयं को अधिक विद्वान और बेहतर व्यक्तित्व का स्वामी दर्शाना चाहता है। यहाँ पर तो प्रेमचन्द की बूढ़ी काकी की समस्या भी नहीं है जो महज दिखावे के लिए छुपाई जा रही है, बल्कि

यहाँ तो बूढ़ी काकी के सामने ही, उनकी भाषा और उनको ओछा दिखाते हुए स्वयं को महिमा मण्डित करने की मृगतृष्णा है। तमिल, तेलगू, कन्नड़, मलयालम, बांग्ला इन सभी भाषिक क्षेत्रों में अंग्रेजों की पर्याप्त लोक प्रियता है, कुछ क्षेत्रों में तो हिन्दी को लकर विवाद भी है, किन्तु यह क्षेत्रीय भाषाएँ भी उसी समस्या से जूझ रहीं हैं, जिससे हिन्दी संघर्ष कर रही है।

एक नयी समस्या भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया से यह भी हुई कि प्रत्येक, क्षेत्रीय भाषा अपनी लिपि को खो देने के खतरे के साथ कम्प्यूटर पर आगे बढ़ रही है। 'भाषिक फॉण्ट' की समस्या के दूर होने के बावजूद भी चन्द लोग ही भाषा को उसकी लिपि के साथ लिख रहे हैं, बल्कि अधिसंख्य 'नेट यूजर्स' 'अंग्रेजी फोन्ट' में ही सभी भाषाओं का उपयोग कर रहे हैं। इस तरह विभिन्न भाषाएं जहाँ सूचना क्रान्ति के युग में अन्तर्जालीय परिदृश्य में दिखती हैं, वहीं वह अंग्रेजी की उंगली पकड़कर ही चल पा रही हैं। इंटरनेट की दुनिया में भाषाओं की यह दशा 'राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन' जी की संविधान निर्माण के समय दी गयी चेतावनी को बार–बार याद दिलाती हैं कि लिपि भाषा की आत्मा होती है, उसके बिना भाषा का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। भाषा का अस्तित्व, सांस्कृतिक पहचान और 'साफ्ट कंट्री पावर' की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। भारत की अतुलनीय विविधता और भाषा पर चर्चा करते हुए देवेश विजय ने लिखा है– ''किसी भी संस्कृति भी पहचान सर्वप्रथम उसमें व्याप्त सोंच एवं साझी व्यवहारिक शैलियों से बनती है। भारतीय समाज में भाषाओं, रीतियों, वेशभूषा इत्यादि की अनोखी विविधता का एक कारण ही हमारे भूखण्ड का विस्तार और भौगोलिक बदलाव ही है।''[4]

वस्तुतः प्रश्न समस्याओं को उठाकर छोड़ देने का नहीं बल्कि उसके समाधान का भी है। आर्थिक, सामाजिक और वैज्ञानिक बदलावों से जो नयी चुनौतियाँ भाषा के क्षेत्र में अवतरित हुई हैं, उन्हें अधिक गंभीरता से लेने की आवश्यकता है। व्यापारिक विकास वाले समाज में जब भाशा को लेकर शुद्धतावाद, विदेशी शब्दों से परहेज, हिन्दी बनाम उर्दू या अंग्रेजी जैसे विवाद दिखते हैं या फिर भाषा के उद्भव सम्बन्धी प्रश्नों पर लम्बी बहस खड़ी होती

है तो किसी सीमा तक वह नयी समस्याओं के समक्ष अधिक प्रासंगिक नहीं लगता। वस्तुतः भाषिक 'नव–उपनिवेशवाद' की चुनौतियों को ठीक तरह से स्वीकारने के लिए भारत में एक मानकीकृत भाषा को स्वीकारने की आवश्यकता है। बेहतर हो सकेगा कि हिन्दी को संविधान के राज भाषा अधिनियम के कागजीपन के साथ–साथ व्यवहारिक बनाया जा सके। तेलंगाना जैसे विवादों से बचकर भाषा को (हिन्दी) राजनीति का नहीं बल्कि राष्ट्र नीति का विषय बनाया जाए। जब हमारी हर योजना विकसित राष्ट्र होने के स्वप्न का अगला कदम होती है, तो हम क्यों न विकसित राष्ट्रों से ही प्रेरणा लें ? विश्व में ऐसा कोई भी विकसित देश नहीं जो अपनी भाषा के बजाय विदेशी भाषा में व्यापार करके आगे बढ़ा हो ? 'फ्राँस', 'जापान', 'चाइना' आदि इसी के उदाहरण हैं। चाइना में भाषिक वैविध्य भारत से अधिक है। वहाँ सत्तर प्रकार की चाइनीज बोली जाती है, फिर भी एक भाषा को मानकीकृत करके, उन्होंने अपनी राष्ट्र भाषा का निर्माण किया और वही व्यापारिक भाषा बनी। विश्व के कुल साढ़े चार देश 'अमेरिका', 'ब्रिटेन', 'आस्ट्रेलिया', 'न्यूजीलैण्ड' और 'आधा कनाडा' ही अंग्रेजी बोलते हैं, जबकि विकसित राष्ट्रों की संख्या डेढ़ दर्जन से अधिक है।

वस्तुतः बाजार की ब्राण्डवादी मनोदृत्ति से मुक्त होकर, सभी को संस्कृति के अनुरूप आधुनिकता में ढलने की आवश्यकता है। यदि परिर्वन और विकास दूसरे राष्ट्र से ली गई प्रेरणा न बनकर बल्कि उसके बाजार से पैदा किया, अनुकरण बन जाए तो पहचान का संकट और भी गहरा जाता है। अपने मूल्यों को सुरक्षित रखते हुए आगे बढ़ना विकास है, फिर प्रश्न चाहे व्यक्तित्व का हो, राष्ट्र को हो, आइडेन्टिटी को हो या फिर भाषा का। इस समाधान को अंततः महात्मा गांधी के इन शब्दों में देखा जा सकता है– ''मेरा कहना यह नहीं है कि हम शेष दुनिया से बचकर रहें या अपने आस–पास दीवारे खड़ी कर लें। मैं यह जरूर कहता हूँ कि पहले हम अपनी संस्कृति का सम्मान करना सीखें और उसे आत्मसात करे।''[5]

दरअसल भाषा सम्बन्धी बहुधा समस्या उस दिन सुलझ सकती है

कि जब व्यापार और व्यवहार की भाषा एक ही हो। उस दिन मात्र भाषाएं भी व्यवहारिक भाषा का अंग बन स्वयं को अधिक सुरक्षित महसूस कर पायेगी और हम समाज को एक सूत्रता में पिरो सकने में सफल हो पायेंगे।

सन्दर्भ

1. भाषा और समाज/राम विलास शर्मा, अध्याय, सोलहवां, संस्करण, प्रकाशक राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 406
2. भूमण्डलीकरण और भारत, परिदृश्य और विकल्प/अमित कुमार सिंह, प्रकाशकः सामायिक प्रकाशन–नई दिल्ली, पृ0 171
3. अंतर्राष्ट्रीय राजनीति/बी0एल0 फाड़िया, प्रकाशक साहित्य भवन
4. सांस्कृतिक इतिहास एक तुलनात्मक सर्वेक्षण/देवेश विजय, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, पृ0 23
5. यंग इण्डिया अखबार, महात्मा गांधी, 01–09–1921